

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र

सहायक संपादक
अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 42 (जुलाई-सितंबर- 2014) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvaachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटेर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक		
साहित्य में सन्नाटा		4
वैचारिकी		
भारत में जनतंत्र : अध्ययन की चुनौतियां/पुष्पेश पंत		6
प्रेमचंद का दलित-विमर्श/कमल किशोर गोयनका		11
जीवन में साहित्य की उपस्थिति/राकेश भारतीय		32
आदिवासी साहित्य : स्वरूप, चुनौतियां और संभावनाएं/गंगा सहाय मीणा		38
पलामू में आदिवासी विप्लव : बिखरी-खोई कड़ियां/राकेश कुमार सिंह		44
उपन्यास अंश		
कागज की नाव/नासिरा शर्मा		52
कहानी		
भले लोग/सुबोध कुमार श्रीवास्तव		66
भीतरी सांकल/बलराम अग्रवाल		75
कविताएं		82
अशोक वाजपेयी, नरेंद्र जैन, स्मिता वाजपेयी, नीलोत्पल, राजेश जैन		
पत्र		
जेल से लिखे : फ़ैज़ के पत्र एलिस के नाम/प्रस्तुति : शकील सिद्दीकी		101
संस्मरण		
गर्माहट भरे दोस्ती के हाथ/महावीर अग्रवाल		110
जन्मशती स्मरण		
प्रकृति और प्रेम के कवि नरेंद्र शर्मा/राजेंद्र उपाध्याय		115
आलोचना		
हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिव्यंजक निबंध/अवधेश प्रधान		120
करुणा की चित्रलिपि में जीवन का गद्य/पंकज पराशर		127
शोध पत्र		
प्रतिरोध की संस्कृति, नुक्कड नाटक और महिलाएं/सुप्रिया पाठक		139
मीडिया		
मीडिया-बाजार में सरोकार का सवाल/मुकेश कुमार		151
बात बोलेगी		
अधूरे सूर्यो का सत्य : साबरमती आश्रम से एक्सप्रेस का सफर/संजीव		156

आदिवासी साहित्य : स्वरूप, चुनौतियां और संभावनाएं

गंगा सहाय मीणा

इन दिनों आदिवासी समाज और साहित्य पर काफी बातें हो रही हैं लेकिन वह अनगिनत चुनौतियों से जूझ रहा है। नई आर्थिक नीतियों से हमारी सरकारों और उद्योगपतियों को विकास के नाम पर आदिवासियों को लूटने की खुली छूट मिल गई। इसका असर देश के किसी भी आदिवासी इलाके में देखा जा सकता है। देश भर के आदिवासियों ने इस खुली छूट को अलग-अलग तरीकों से चुनौती भी दी है। लाल रेखा की परिधि के बढ़ते चले जाने से लेकर नियमगिरि की ग्राम सभाओं द्वारा वेदांत के एक सुर में विरोध तक में हम इसे देख सकते हैं। आदिवासियों की समस्याएं सुलझने के बजाए और उलझती जा रही है। इसकी सबसे बड़ी वजह आदिवासी जीवन और समाज से बाहरी समाज और सरकारों का अपरिचय और उपेक्षापूर्ण रवैया है। आदिवासी समाज से संवाद में आदिवासी साहित्य एक सशक्त माध्यम बन सकता है। आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक परंपरा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और जीवन-दृष्टि के बुनियादी तत्वों की पहचान कर सकते हैं। वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू-बरू कराता है।

आदिवासी साहित्य पर आ रही किताबें और शोध भ्रमों का निर्माण और दोहराव ही अधिक कर रहे हैं। इसलिए आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ का निर्माण करना बहुत जरूरी है। हालांकि स्वयं आदिवासी जीवन और समाज किसी प्रकार के शास्त्र या सिद्धांतों का बंधन नहीं मानता, लेकिन आदिवासी साहित्य के बारे में फैल रहे भ्रमों के निराकरण के लिए कुछ बुनियादी सवालों पर बात करना जरूरी है। इस संदर्भ में सबसे बुनियादी सवाल यही है कि आखिर हम आदिवासी साहित्य किसे कहेंगे? हिंदी के दो अन्य अस्मितावादी विमर्शों को देखें तो यह लगभग स्वीकृत हो चुका है कि स्त्रियों की समस्या पर स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य को स्त्रीवादी साहित्य और इसी तर्ज पर दलितों की समस्याओं पर दलित रचनाकारों के रचनात्मक हस्तक्षेप को दलित साहित्य की श्रेणी में रखेंगे। दलित साहित्य के विरोधियों ने 'स्वानुभूति' के सवाल पर खूब हल्ला मचाया लेकिन बड़ी संख्या में दलितों के प्रतिरोध ने दलित साहित्य विषयक दलित आलोचकों की स्थापनाओं को मनवा ही लिया।

होना तो यह चाहिए था कि दलित साहित्य की अवधारणा-निर्माण की प्रक्रिया में आई मुश्किलों का अकादमिक दुनिया में उसके बाद दस्तक देने वाले आदिवासी साहित्य को बना-बनाया हल मिल जाता लेकिन ऐसा हुआ नहीं। आदिवासी जीवन और समाज पर गैर-आदिवासी रचनाकारों के कहानी-उपन्यास प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो-एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैंकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि-लेखक उपेक्षित हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा और बुनियादी सवालों को उठाने की दृष्टि से पिछले एक वर्ष में हुए दो गोष्ठियां बड़ी

महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक दिल्ली में हुई और दूसरी रांची में। पिछले वर्ष जुलाई में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आदिवासी साहित्य पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में संभवतः पहली बार खुले तौर पर झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा (रांची) की संयोजक और आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के सवाल को मुखरता से उठाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ समय के साथ या सुनी-सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है। उसकी समस्याएं प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं, जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है। इसके बाद वाले सत्र में वंदना टेटे द्वारा उठाए गए सवालों पर कथाकार संजीव सहित आदिवासी जीवन पर लिखने वाले कई गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा असहमति जताते हुए प्रतिक्रिया दी गई।

वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य संबंधी अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' में रखा है। आदिवासी साहित्य के संवर्द्धन के लिए निजी प्रयासों से संचालित प्यारा करकेड़ा फाउंडेशन से प्रकाशित यह पुस्तक आदिवासी जीवन, भाषा, कला, संस्कृति और साहित्य के बारे में फैलाए जा रहे भ्रमों को तोड़ते आदिवासी नजरिए से आदिवासी साहित्य और आदिवासी विश्वदृष्टि के बारे में सही समझ विकसित करने की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप है। इसमें वंदना टेटे आदिवासी साहित्य संबंधी प्रचलित तीन धारणाओं- उसके लोक साहित्य होने, अनगढ़ होने और प्रतिरोध का साहित्य होने का खंडन करती हैं तथा आदिवासी संस्कृति, जीवन-दर्शन व उनके विश्वदृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग दृष्टि की मांग करती हैं। वे लोक का संबंध हिंदू मिथक और संस्कृति से बताते हुए कहती हैं, 'प्रकृति-पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांधकर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।'¹ वे लोक और शिष्ट के विभाजन से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं। इसी तरह आदिवासी साहित्य और कलाओं को हिंदी आलोचकों द्वारा अनगढ़ बताने को सीधे-सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना मानती हैं। पुस्तक में वंदना टेटे की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। वे लिखती हैं- 'आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इनसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त, करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।'² वंदना टेटे कहती हैं कि प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की 'सत्ता' स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं है।

इन स्थापनाओं के आलोक में आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। आदिवासी साहित्य संबंधी अधिकांश भ्रमों के निर्माण की शुरुआत यहीं से होती है कि आखिर हम आदिवासी साहित्य में किसे शामिल मानेंगे और किसे नहीं। पहली बात तो यह कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिंदी में लिखे साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानेंगे, आदिवासी भाषाओं में लिखे साहित्य को आदिवासी

साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परंपरा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध पुरखौती को शामिल करना होगा जिसका कुछ हिस्सा डब्यू. आर.सी. आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है इसलिए आदिवासी साहित्य का इतिहास लिखते वक्त, उसकी प्रवृत्तियां बताते वक्त हमें संताली, 'मुंडारी', 'खड़िया', 'कुडुख', 'हो' आदि भाषाओं की साहित्य परंपरा को सामने रखना होगा।

जहां तक गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी जीवन पर किए लेखन का सवाल है, वह उस लेखकीय संवेदनशीलता का परिचायक है जो साहित्य मात्र के उद्देश्य, अनुभव और संवेदनशीलता के विस्तार, का समर्थन करती है। वह भी हिंदी साहित्य की धरोहर है लेकिन जैसे सभी युगों की प्रगतिशील कविताएं 'प्रगतिवाद' नामक साहित्यक आंदोलन में शामिल नहीं की जा सकती, वैसे ही आदिवासी जीवन के किसी पक्ष पर लेखन मात्र आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता। सवाल यह है कि क्या प्रगतिशील रचनाएं सिर्फ 'प्रगतिवाद' में शामिल होने के लिए लिखी जानी चाहिए! आदिवासी जीवन पर गैर-आदिवासी लिखें। किसी भी विषय पर कोई भी लिख सकता है, पाठक को भी पढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। गैर-आदिवासी लेखकों को चाहिए कि अगर वे आदिवासी समाज को लेकर सच में चिंतित हैं तो आदिवासी साहित्यकारों को प्रोत्साहित करें, उनका सहयोग करें क्योंकि प्रकाशन, प्रसार, प्रशंसा, पुरस्कार और पाठ्यक्रम के रूप में मौजूद साहित्य के एकेडमिया की पूरी मशीनरी पर गैर-आदिवासियों का कब्जा है। वैसे अब काफी संख्या में आदिवासी रचनाकार हिंदी में भी लिखने लगे हैं लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है, आदिवासी भाषाओं में रचित मूल साहित्य के अलावा उसके हिंदी अनुवाद को भी पाठ्यक्रमों में शामिल करना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि हिंदी प्रदेश, हिंदी क्षेत्र और हिंदी जाति की बात करते वक्त हम हमेशा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड, झारखंड, बिहार, राजस्थान, हिमाचल आदि के पूरे क्षेत्र और जनसंख्या को उसमें शामिल मानते हैं, लेकिन उनकी भाषाओं और साहित्य को कभी अपना नहीं मानते रहे। हिंदी के पाठ्यक्रम निर्माताओं को इस रूप में यह प्रायश्चित का अवसर मिला है।

आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियों आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संताली आदि मध्य भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1950 के आसपास से आदिवासी कलम ने अपने स्वयं को शब्दों में ढालना शुरू किया। आजादी के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गूंज सुनाई देने लगी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य जहां प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन अस्मिता की खोज, दिक्कों द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है। 'यह उस परिवर्तनकारी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के

प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।³

आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' में नहीं, समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी समय बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास, कला से लेकर विद्रोह तक, सब कुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। इस तरह आदिवासी साहित्य बिरसा, सिदो-कान्हा, सिनगी दर्ई, फूलो ज्ञानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

हिंदी में आदिवासी कलम के बढ़ते दखल के बीच इस वर्ष 14-15 जून को रांची में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन' विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया जो आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने, उसका मूल्यांकन करने और उसके बुनियादी तत्वों की पहचान करने की दृष्टि से खास रहा। रांची सेमिनार में इन्हीं तत्वों की पहचान की गई और सेमिनार के अंत में घोषणा-पत्र जारी किया गया। रांची घोषणा-पत्र के अनुसार आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है। झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृत अखड़ा नामक संगठन द्वारा आयोजित इस सेमिनार में देश भर के आदिवासी रचनाकारों ने हिस्सा लिया और आदिवासी दर्शन सारी बातचीत के केंद्र में था।

पंद्रह सूत्रीय रांची घोषणा-पत्र में आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला-माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहां कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन-सा गीत किसने रचा, बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। तमाम भाषाओं में मौजूद आदिवासी साहित्य में प्रकृति की लय-तान और संगीत भरा पड़ा है। समकालीन आदिवासी लेखन पर भी इसका असर देखा जा सकता है। बिना संगीत के आदिवासी कविताओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। सेमिनार में आदिवासी कविताओं के लिए एक अलग सत्र रखा गया जिसमें सुषमा असुर, अनुज लुगुन, वंदना टेटे, ग्रेस कुजूर, जसिंता केरकेट्टा, ज्योति लकड़ा आदि समकालीन आदिवासी कवियों ने अपनी-अपनी कविताएं सुनाईं। अपनी मातृभाषाओं को छोड़ हिंदी में रची कविताओं में भी यह संगीत सुना जा सकता है।

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है क्योंकि उसी से पृथक आदिवासी परंपरा और संस्कृति के निर्माण द्वारा आदिवासी

अस्मिता का स्वरूप बना। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाए समूचे जीव-जगत को महत्वपूर्ण मानता है और मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है। इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। बाहरी समाज ने हमेशा आदिवासी इलाकों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का केंद्र माना है। आदिवासी जिस प्रकृति को मां मानते आए हैं, उसे बाहरी लोगों ने मुनाफे का साधन मात्र माना है। देश के तमाम आदिवासी इलाके संसाधनों के दोहन के लिए बर्बाद कर दिए गए और अब भी किए जा रहे हैं। आदिवासी उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरत भर चीजें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा करता आया है। वे उसके जीवनाधार हैं। आज भी अधिकांश इलाकों में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। कल्पना करें कि किसी आदिवासी बस्ती के समीवर्ती जंगल में किसी फल का पेड़ है तो वहां के आदिवासी उस पेड़ से जरूरतभर फल चुनेंगे, वो भी सबसे पहले पककर झड़े हुए। यह 'संतोष परं सुख' का विचार नहीं, रचाव और बचाव का दर्शन है यानी जरूरत भर उपयोग के बाद दूसरों के लिए चीजों को बचाना।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है- जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल देखने को मिलता है, जो जीवन को आनंदमयी बनाए रखता है। न वहां पैसे का लालच है और न मुनाफे की अंधी दौड़। बल्कि वह अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञ महसूस करता है। नियमगिरि के मामले में पूरी दुनिया ने देखा कि नियमगिरि के डोंगरिया कांध आदिवासियों के लिए वह उनका पूर्वज है, उनका भगवान है और वही नियमगिरि वेदांत के लिए मुनाफे के स्रोत प्राकृतिक संसाधनों का ढेर मात्र। जाहिर है किसी पहाड़ को प्राकृतिक संसाधनों और लाभ से जोड़कर देखा जाएगा तो उसका अधिक से अधिक दोहन किया जाएगा, वहीं अगर उसे अपना पूर्वज माना जाएगा तो उसके बचाव और रचाव के प्रयास किए जाएंगे। आदिवासी समाज खुद को तमाम नदियों, पहाड़ों और जंगलों का संरक्षक मानता है और उन्हें बचाना अपना कर्तव्य समझता है। यह बात आदिवासी दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

गैर-आदिवासी लेखन रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है जबकि आदिवासी साहित्य और दर्शन में इनके प्रति कोई आग्रह नहीं है। आदिवासी सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुंदर नहीं है। साथ ही आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ है। जब पूरी दुनिया एक संस्कृति और एक भाषा की ओर बढ़ती चली जा रही है, आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के साथ खड़ा है। आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान और साहित्य उनकी अपनी भाषाओं में संरक्षित है। संयुक्त राष्ट्र संघ दुनिया भर के देशज लोगों के हक में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है। आदिवासी साहित्य भी आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में है।

तथाकथित मुख्यधारा की साहित्यिक विरासत सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, मिथकों, प्रतीकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से भरी पड़ी है। तमाम प्रगतिशील और

अस्मितावादी साहित्य भी इससे पूरी तरह मुक्त नहीं है। आदिवासी साहित्य और दर्शन इससे अपनी असहमति जताता है। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है। इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत सुना जा सकता है। यहां एक और बात गौर करने की है। आदिवासियों का साहित्य उनकी मातृभाषाओं की मौखिक (और अब लिखित भी) परंपरा में मौजूद है। इसलिए आदिवासी दर्शन या आदिवासी विश्व दृष्टिकोण को समझने के लिए आदिवासियों के केवल हिंदी लेखन से काम नहीं चलेगा। उनकी मातृभाषाओं तक पहुंचना होगा।

आदिवासी दर्शन पर आयोजित यह संगोष्ठी कई दृष्टियों से खास रही। अभी तक आदिवासी साहित्य पर होने वाली संगोष्ठियों में गैर-आदिवासी लेखकों और वक्ताओं को ही बुलाया जाता रहा है। आदिवासी रचनाकार उनमें अपवादस्वरूप ही दिखते हैं, वह भी दो-एक ब्रांडेड हो चुके रचनाकार। दो दिनों तक चली रांची संगोष्ठी में आदिवासी लेखकों, पत्रकारों, प्रोफेसरों, शोधार्थियों, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं, फिल्मकारों, रंगकर्मियों और कलाकारों की उपस्थिति ने आदिवासी दर्शन पर बहुआयामी विश्लेषण और सहमति का मार्ग प्रशस्त किया। कार्यक्रम में शामिल होने वाले विद्वानों में रोज केरकेट्टा, रूपलाल बेदिया, वंदना टेटे, ग्लैयडसन डुंगडुंग, ज्योति लकड़ा, सुषमा असुर, बन्ना राम मीणा, मंगलसिंह मुंडा, वाल्टगर भेंगरा 'तरुण', जोवाकिम तोपनो, धनेश्वर मांझी, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, ग्रेस कुजूर, वीरेंद्र कुमार मीणा, राजकुमार और इन पंक्तियों के लेखक का नाम शामिल है। इतनी बड़ी संख्या में आदिवासी विद्वानों की उपस्थिति और उनकी सक्रिय भागीदारी ने कार्यक्रम को सार्थक और सफल बनाने में मदद की। निजी प्रयासों और सीमित संसाधनों से किए गए इस संगोष्ठी में जारी किया गया घोषणा-पत्र आदिवासी साहित्य को समझने की दिशा में मील का पत्थर माना जाएगा।

यह भी सच है कि आदिवासी जीवन और साहित्य के बारे में बात करते वक्त हमें आदिवासी समाज के अंदर की विविधताओं को समझना और संबोधित करना होगा। आदिवासी समाज कोई जड़ समाज नहीं है, खास तौर पर इन दिनों वह गहरों बदलावों के दौर से गुजर रहा है। इन बदलावों को भी रेखांकित करना होगा। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन और उसकी समस्याओं को संपूर्णता में समझना होगा और आदिवासी जीवन-दृष्टि को समझने में आदिवासी साहित्य से बेहतर पथ-प्रदर्शक कोई नहीं हो सकता। इसलिए हमारा फोकस आदिवासियों की उस पूरी मौखिक और लिखित साहित्य परंपरा पर होना चाहिए। उसी से संवाद करके हम समझ पाएंगे कि आदिवासी दर्शन रचाव और बसाव का दर्शन है। विकास की अलग-अलग परिभाषाओं की अंधी दौड़ में फंसे विश्व को यही दर्शन बचा सकता है।

संदर्भ

1. 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' वंदना टेटे, प्यालारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2013, पृष्ठ-84
2. वही, (पृष्ठ- 87-88)
3. आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक- गंगा सहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2014

